प्रातिशाख्य एवम् भाषातत्त्व

सुनील कुमार यादव*

वैदिक काल में वेद विद्या का अध्ययन-अध्यापन श्रुति परम्परा पर आधारित था उस समय वैदिक ऋचाओं का अध्ययन करके उसको स्मरण रखते थे। ब्राह्मण काल के बाद जब जन भाषाओं का विकास हुआ शनैः शनैः आर्यजन वैदिक मन्त्रों की भाषा से अपरिचित होने लगे। परिणाम स्वरूप वैदिकमन्त्रों का शुद्ध उच्चारण असम्भव हो गया। इसलिये वैदिक स्वर, मात्रा, वर्ण, सन्धि, छन्द, पद-पाठ, क्रम-पाठ आदि का ज्ञान कराने क लिये प्रातिशाख्यों के रूप में भाषा वैज्ञानिक अध्ययन निष्पन्न हुआ। इनमें ऋक्प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, वाजसनेयि प्रातिशाख्य, अथर्ववेद प्रातिशाख्य तथा ऋक्तन्त्र का अधिक प्रचार हुआ।

वेद के प्रत्येक शाखा के भाषा वैज्ञानिक अध्ययन से सम्बद्ध होने के कारण ही ये ग्रन्थ प्रातिशाख्य कहलाये। इनमें वर्ण समाम्नाय, स्वर, संधि, उच्चारण, उच्चारणदोष, वर्णों की व्युत्पत्ति, पद-पाठ, क्रम-पाठ तथा पदपाठ से संहिता पाठ बनाने के नियम आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। यद्यपि वेदविद्या के समुचित ज्ञान कराने के लिये वेदागें की रचना की गयी थी किन्तु इन शिक्षा, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष आदि वेदागें में सामान्य नियम बताये गये है। उनका सम्बन्ध वेद की किसी शाखा विशेष से नहीं था। जिस प्रकार वैदिक मन्त्रों के अर्थज्ञान के लिये निरुक्त उपयोगी है उसी प्रकार मन्त्रों के बाह्य स्वरूप तथा वैदिक भाषा के स्वरूप के ज्ञान के लिये प्रातिशाख्य उपयोगी है।

प्रातिशाख्यों में वैदिक भाषा के समुचित ज्ञान कराने के लिय भाषा के आवश्यक तत्त्व उपलब्ध है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में कहा गया है कि इस शास्त्र में केवल वेद से संबन्धित नियमों का विधान किया जायेगा न कि लौकिक भाषा का।[१] भाषा की सबसे छोटी इकाई वर्ण है वा०प्रा० के अष्टम अध्याय में वर्ण समाम्नाय का अधिकार किया गया है।[२] जिसमें कुल ६५ वर्णों का उल्लेख किया गया है-एते पंचषष्टिवर्णा ब्रह्मराधिरात्मवाचः वा०प्रा० ८.२५। ऋ०प्रा० के प्रथम पटल में वर्ण समाम्नाय का विस्तृत उल्लेख किया गया है।

वर्णों के समुदाय को अक्षर कहा जाता है।[३] मूलरूप में स्वरों की अक्षर संज्ञा की जाती है लेकिन व्यंजनों का स्वर के साथ उच्चारण होने के कारण धर्म तथा धर्म में अन्तर न मानते हुये पूरे वर्ण समाम्नाय को अक्षर संज्ञा दी जाती है।[४]

ऊ३स्व स्वर वर्ण तथा अवग्रह (ऽ) के उच्चारण में एकमात्र काल का समय लगता हैं। दीर्घस्वर वर्ण के उच्चारण में दो मात्राकाल तथा प्लुत स्वर वर्ण के उच्चारण में तीन मात्र काल

***शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद**

का समय लगता है। वा०प्रा० में मात्रा काल का सूक्ष्म विवेचन करते हुये कहा गया है कि वर्णों के स्थान पर आने वाले वर्णों का काल एकमात्रा, आधीमात्रा और चौथाई मात्रा काल होता है।[५] ऊ३स्व स्वर है पूर्व में जिसके वह अनुस्वार डेढ़ मात्रा काल वाला होता है और पूर्ववर्ती ऊ३स्व स्वर आधी मात्रा काल वाला होता है।[६] परन्तु दीर्घ स्वर से परवर्ती अनुस्वार आधी मात्रा काल वाला तथा पूर्ववर्ती दीर्घ स्वर डेढ़मात्रा काल वाला होता है।[७]

जिस स्थान पर ऊदयस्थ वायु को विकृत करके वर्णविशेष को उत्पन्न किया जाता है उसी स्थान को उस वर्ण विशेष का उच्चारण स्थान कहते हैं। ऋक् प्रातिशाख्य के प्रथम पटल एवम् वा०प्रा० के प्रथम अध्याय में उच्चारण स्थान का विस्तार से वर्णन किया गया हैं वर्णों के उच्चारण में प्रयुक्त होने वाले उच्चारणावयवों की प्रेरणा को प्रयत्न कहते हैं। यह बाह्य एवम् अभ्यान्तर दो प्रयत्न होते हैं। वा०प्रा० में विवृत और संवृत नामक दो बाह्य प्रयत्न कहे गये हैं। वा०प्रा० ने भाष्य में उवट ने छः अभ्यान्तर प्रयत्नों का उल्लेख किया है- संवृतता, विवृतता, स्पृष्टष्ता, अस्पृष्टता, ईषत्स्पृष्टता, अर्धस्पृष्टता।

वास्तव में ध्वन्युत्पन्न का कारण वायु है और वायु आकाश में उत्पन्न होता है।[८] ऋ०प्रा० में कहा गया है कि कण्ठ विवर के खुलने या बन्द होने के अनुसार वायु श्वास अथवा नाद हो जाती है। जिससे ध्वनि उत्पन्न होती हैं।[९] समुचित कारणों-आत्मा, मन, कायाग्नि के द्वारा प्रेरित हो कर हृदयस्थ वायु ही शब्दत्व को धारण करती है। पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है कि मन शरीर की अग्नि को प्रेरित करती है। वह शरीर की अग्नि वायु को प्रेरित करती है तदन्तर हृदयस्थ वायु मधुर स्वर को उत्पन्न करती है।[१०] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में कण्ठ और उर के सन्धिस्थल से शब्द की उत्पत्ति मानी गयी है।[११] उर से उत्पन्न ध्वनि को मन्द्र, कण्ठ से उत्पन्न ध्वनि को मध्यम तथा सिर से उत्पन्न ध्वनि को तारम् कहा गया है।[१२]

वाणी की सात अवस्थाओं का उल्लेख तै०प्रा० में मिलता है। ये हैं- उपांशु,[१३] ध्वान,[१४] निमद,[१५] उपब्दिमत्,[१६] मन्द्र, मध्यम और उत्तम। ऋ०प्रा० की वर्गद्वयवृत्ति में कहा गया है कि वाणी में प्राण का होम होता है और प्राण में वाणी का होम होता है।[१७]

भाषातत्त्व के रूप में संस्कार शब्द का प्रयोग होता है यह सन्धि के पर्याय के रूप में भी प्रयुक्त होता है। वा०प्रा० के भाष्य में उवट ने बतलाया है कि संस्कार लोप, आगम, वर्णविकार और प्रकृतिभाव रूप है-

संस्कारो लोपागमवर्णविकारप्रकृतिभावलक्षणः। तथा चार प्रकार की सन्धियों का उल्लेख किया है-

(१) स्वर सन्धि,
(२) व्यंजन सन्धि,
(३) स्वर व्यंजन सन्धि तथा
(४) व्यंजन स्वर सन्धि।

वा०प्रा० में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सन्धि पदान्त और पदादि में होती है-

पदान्तपदाद्योः सन्धिः । इसी बात को ऋ०प्रा० में भी स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि काल का व्यवधान किये बिना जो पदान्तों का पदादियों के साथ मेल संपादन करती है वह संहिता है- पदान्तान्पदादिभिः सदंधदेति यत्साकालाव्यवायेन।

प्रातिशाख्यों में भाषातत्त्व के रूप में लोपागम आदि का विस्तार से विचार किया गया है। लोप के अन्तर्गत नि का लोप,[१८] सकार का लोप[१९] तथा यकार और वकार का लोप[२०] दिखाई देता है। अतिरिक्त वर्ण का आ जाना आगम कहलाता है। यथा रेफ का आगम, सकार का आगम। यथा वनपतिः = वनस्पतिः । सन्धियों में ही मुख्य रूप से वर्णविकार दिखलायी पड़ता है। इसके अन्तर्गत एकीभाव, अन्तःस्थीकरण, अयादिभाव, पूर्वरूपता, दीर्घीकरण, तथा स्पर्श वर्णों, ऊष्मवर्णों, विसर्जनीय के विकार आदि आते हैं।

प्रातिशाख्यों की रचना का मुख्य प्रयोजन वैदिक संहिताओं का अपने वास्तविक रूप में बनाये रखना तथा वेदार्थ ज्ञान कराना था। इसलिए पदपाठ और क्रमपाठ का विधान किया गया । संहिताओं में निहित प्रत्येक पद को जानने के लिये पद पाठ तथा संहिताओं को मूल में स्थायित्व प्रदान करने तथ्य स्मृति में रखने के लिये क्रम-पाठ का विधान किया गया।

इस प्रकार भाषा तत्त्व की दृष्टि से प्रातिशाख्यों का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि वैदिक भाषा तथा वैदिक भाषातत्त्व को समझने के लिये तथा वेदों की संहिताओं को यथारूप में अक्षुण्य बनाये रखने के लिये प्रातिशाख्यों का अध्ययन आवश्यक प्रतीत होता है। प्रातिशाख्यों में वैदिक संस्कृत भाषा के तत्त्व निहित हैं। जिससे भाषाओं की उत्पत्ति एवं विकास का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।

सन्दर्भ :-

१. लौकिकानामर्थपूवकत्वात् ।। वा०प्रा० १.२
२. अथातोवर्णसमाम्नायं व्याख्यास्यामः ।। वा०प्रा० ८.१
३. तत्समुदायोऽक्षरम् ।। वा०प्रा० ८.४८
४. अनुस्वारों व्यंजनम् चाक्षरांगम् ।। ऋ०प्रा० १.२२
५. मात्रार्धमात्राणुमात्रावर्णापत्तीनाम् ।। वा०प्रा० ४.१४६
६. अनुस्वारो ऽ स्वपूर्वोऽध्यर्धमात्रापूर्वाचार्धमात्रेति ।। वा०प्रा० ४.१५०
६. दीर्घादर्धमात्रापूर्वांचाध्यर्धा ।। वा०प्रा० ४.१५१
८. वायुःखात् ।। वा०प्रा० १.६
९. कण्ठस्य खे विवृते संवृते वा ।। ऋ०प्रा० १३.१
१०. मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारूतम् ।
मारूतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वर ।। पा०शि०
११. वायुशरीरसमीरणात् कण्ठोरसोः सन्धाने ।। तै०प्रा० २.२
१२. उरसिमन्द्रं कण्ठे मध्यमं शिरसितारम् ।। तै०प्रा० २३.१०
१३. करणवदशब्दममनः प्रयोगमुप्रांशु ।। तै०प्रा० २३.६

१४. अक्षरव्यंजनानामनुपलब्धिर्ध्वानः ।। त्रै०प्रा० २३.७
१५. उपलब्धिर्निमदः ।। तै०प्रा० २३.८
१६. सशब्दमुपब्दिमत् ।। तै०प्रा० २३.६
१७. वाक्प्राणयोर्यश्च होमः ।। ऋ०प्रा० ४
१८. निशब्दों बहुलम् ।। वा०प्रा० ३.१८
१९. उदः स्तभानेलोपम् ।। वा०प्रा० ४.६६
२०. यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः ।। वा०प्रा० ४.१२७

******